

जीवन के बारे में यंत्रवादी मत यह है कि मनुष्य चूंकि अपने वातावरण तथा विविध प्रतिक्रियाओं का परिणाम मात्र है, जो केवल इंद्रियों द्वारा ही प्रत्यक्ष हो सकता है, इसलिए वातावरण तथा प्रतिक्रियाएं एक ऐसी बुद्धिसंगत प्रणाली द्वारा नियंत्रित होनी चाहिए जिसमें व्यक्ति को केवल बने-बनाए ढांचे के भीतर ही कार्य करने की अनुमति हो। कृपया जीवन के प्रति इस यंत्रवादी दृष्टि के पूरे निहितार्थ को समझ लीजिए। यह मत किसी परम, लोकोत्तर सत्ता की कल्पना नहीं करता है, ऐसा कुछ नहीं है जो निरंतर बना रहे; यह मृत्यु के बाद किसी प्रकार के जीवन को स्वीकार नहीं करता है; इसके अनुसार जीवन और कुछ नहीं बस एक अल्प अवधि है जो पूरी तरह मिट जाने की ओर अग्रसर है। चूंकि मनुष्य पर्यावरणीय प्रतिक्रियाओं के परिणाम के अतिरिक्त कुछ नहीं है, उसका संबंध बस अपनी स्वार्थपूर्ण सुरक्षा से है, इसलिए शोषण, क्रूरता तथा युद्ध के तंत्र की निर्मिति में उसका योगदान रहा है। इसलिए उसके क्रियाकलापों को परिवेश के परिवर्तन व नियंत्रण द्वारा ही ढालना और संचालित करना पड़ेगा।

फिर वे लोग हैं जो इस मत को स्वीकार करते हैं कि मनुष्य सारभूत रूप से दिव्य है, उसकी नियति किसी परम प्रज्ञा द्वारा नियंत्रित व निर्देशित है। ये दावा करते हैं कि ये ईश्वर, पूर्णता, स्वतंत्रता, आनंद, अस्तित्व की एक ऐसी अवस्था की खोज कर रहे हैं जिसमें सभी व्यक्तिपरक अंतर्द्वंद्व समाप्त हो जाते हैं। मनुष्य के भाग्य को निर्देशित करने वाली सर्वोच्च सत्ता में उनका विश्वास आस्था पर आधारित है। वे कहेंगे कि इस लोकोत्तर सत्ता या उच्चतम प्रज्ञा ने ही संसार का निर्माण किया है तथा 'मैं', अहं, व्यक्ति अपने आपमें शाश्वत है व उसमें नित्यता का गुण है।

कभी आप सोचते हैं कि जीवन यांत्रिक है, तथा अन्य अवसरों पर, जब दुख और असमंजस घेर लेते हैं तो आप आस्था की ओर लौट आते हैं, मार्गदर्शन और सहायता के लिए किसी परम सत्ता की ओर ताकने लगते हैं। आप इन दो विपरीत ध्रुवों के बीच डोलते रहते हैं, जबकि इन विपरीत ध्रुवों के भ्रम को समझ कर ही आप स्वयं को सीमाओं तथा अटकावों से मुक्त कर सकते हैं। आप प्रायः कल्पना कर लेते हैं कि आप इनसे मुक्त हैं, किंतु आप उनसे मूलभूत रूप से मुक्त तभी हो पाते हैं जब आप इन सीमाओं के निर्माण की पूरी प्रक्रिया को समझ लेते हैं और इनका अंत कर देते हैं। आप यथार्थ को, 'जो है' उसे तब तक उसकी व्यापकता में नहीं समझ सकते जब तक अज्ञान की अनादि प्रक्रिया जारी है। जब यह प्रक्रिया थम जाती है, जिसने अपनी लालसा की ऐच्छिक गतिविधियों से स्वयं को बनाए रखा था, तब वह विद्यमान होता है जिसे कोई चाहे तो यथार्थ, सत्य, परमानंद कह सकता है।

एडिंग्टन, पेनसिल्वेनिया, 12 जून 1936